दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष आठवाँ
अंक ग्यारहवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

फाल्गुन
२४७९

''ॐकार ध्वनि का नाद''

अहो! ....धन्य वह पावनभूमि विपुलाचल... आज से २५०६ वर्ष पूर्व उस तीर्थभूमि पर तीर्थंकरदेव की ॐकार ध्वनि का नाद गूँजता था... और गणधरादि संत उसे झेलकर पावन होते थे।

महावीर भगवान को केवलज्ञान होने के पश्चात् सर्वांग से दिव्यध्वनि का स्रोत प्रवाहित हुआ, गौतम प्रभु गणधर पदवी को प्राप्त हुए तथा परमागम शास्त्रों की रचना हुई—इन पवित्र-प्रसंगों का महान दिवस अर्थात् ''श्रावण कृष्णा प्रतिपदा!''

'अहो! आज के दिन तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि खिरी'—इसप्रकार अपने ज्ञान में केवलज्ञान के साथ संधि करके भव्य जीव उसका महोत्सव मनाते हैं। केवलज्ञान से परंपरा चली आ रही ॐकार ध्वनि का नाद महाभाग्य से आज भी सुनने को मिलता है!

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१५

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सोनगढ़ में—

श्री मानस्तंभ में सीमंधर भगवान की

पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा का

महोत्सव

सोनगढ़ में जो भव्य मानस्तंभ तैयार हो रहा है, उस में पंच-कल्याणकपूर्वक भगवान श्री सीमंधर प्रभु की प्रतिष्ठा का मंगल-मुहूर्त चैत्र शुक्ला १०, बुधवार ता. २५ मार्च के दिन निश्चित किया गया है। ता. १८ मार्च, बुधवार से लेकर ता. २५ मार्च बुधवार तक (आठ दिन तक) यह महोत्सव मनाया जायगा।

विस्तृत कार्यक्रम कुमकुम-पत्रिका में दिया जायेगा।

[नोट : तिथि के क्षय या वृद्धि के कारण गड़बड़ी न हो, उसके लिये तारीख और दिन पर ध्यान रखें!]

आत्मधर्म

फाल्गुन २४७९ ❀ वर्ष आठवाँ ❀ अंक ग्यारहवाँ

''निकटवर्ती शिष्यजनों को—
श्री आचार्यों का उपदेश''

इस शुद्ध ज्ञायक आत्मा को जो अभी समझा नहीं है, परन्तु समझने की तीव्र आकांक्षा है—ऐसे निकटवर्ती शिष्य को समयसार में आचार्यदेव शुद्धात्मा का स्वरूप समझाते हैं। आत्मा को और उसके धर्मों को स्वभाव से अभेदपना है, तथापि उसमें नाम से भेद उत्पन्न करके व्यवहारमात्र से ऐसा उपदेश है कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है।

कथन में भेद आता हो, तथापि उपदेशक का अभिप्राय अभेद आत्मसवभाव बतलाने का है; उसी प्रकार सुननेवाले शिष्य को विकल्प होने पर भी, उसकी वृत्ति तो अभेद आत्मस्वभाव को समझने की ही है। ऐसा शिष्य अल्पकाल में अभेद आत्मा को समझ लेगा, इसलिये उसे 'निकटवर्ती' कहा है; निमित्तरूप से श्रीगुरु का निकटवर्ती है और उपादानरूप से अपने आत्मस्वभाव का निकटवर्ती है।

शिष्य को ''निकटवर्ती'' कहा, उसमें अकेली क्षेत्र की निकटता की बात नहीं है परन्तु भाव से भी निकटता है, अर्थात् जैसा स्वरूप श्रीगुरु समझाते हैं, वैसा ही ग्रहण करके समझने की तैयारी वाला है। कोई जीव क्षेत्र से भले ही भगवान के समवशरण में बैठा हो, तथापि अंतर में यदि उसे व्यवहार की और राग की रुचि हो तो वह वास्तव में निकटवर्ती शिष्य नहीं है; और एकबार भी श्रीगुरु के निकट से परमार्थ आत्मस्वरूप की बात साक्षात् सुनकर जिसे वह रुचि है—ऐसा शिष्य कदाचित् क्षेत्र से दूर हो, तथापि अंतरंग रुचि की अपेक्षा से तो वह निकटवर्ती है।

देखो, समझानेवाले उपदेशक कैसे होते हैं और समझनेवाला शिष्य कैसा होता है—वह

बात इसमें आ जाती है। समझानेवाला उपदेशक ऐसा होना चाहिए कि जो शुद्ध आत्मा बतलाकर उसी का आश्रय कराना चाहता हो; इसके अतिरिक्त निमित्त के या व्यवहार के आश्रय से धर्म न मनाता हो। और समझनेवाला शिष्य भी ऐसा होना चाहिए कि जो अपने शुद्धात्मा को समझकर उसका आश्रय करना चाहता हो; इसके अतिरिक्त विकार के या भेद के आश्रय की रुचि उसे न हो। ऐसे निकटवर्ती शिष्य को श्रीगुरु आत्मा का स्वरूप समझाते हैं कि देख भाई! आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप है। ऐसा समझाते हुए बीच में गुण-गुणी भेदरूप व्यवहार आता अवश्य है, परन्तु समझानेवाले का या समझनेवाले का भार उस भेद पर नहीं है; श्रीगुरु का प्रयोजन अभेद आत्मा को बतलाने का है और शिष्य भी वैसे ही आत्मा का अनुभव करना चाहता है।

शिष्य को अभी शुद्धात्मा के विकल्पवाला शुद्धनय है; परन्तु उसकी रुचि का जोर विकल्प पर नहीं है किन्तु अभेदस्वरूप की ओर है; इसलिये शुद्ध आत्मा का अनुभव करके उस विकल्प को तोड़ देगा। अनादिकाल में जीव को शुद्धनय का जो विकल्परूप पक्ष हुआ है, उसकी यह बात नहीं है; यह तो अभेदस्वरूप में ढलने का विकल्प है; शिष्य के लक्ष में विकल्प का प्रयोजन नहीं है परन्तु अभेदस्वरूप में ढलने का ही प्रयोजन है; इसलिये वह विकल्प टूटकर अभेद आत्मा का निर्विकल्प अनुभव होगा हो—ऐसी ही बात यहाँ ली है।

श्रीगुरु अभेद आत्मा का स्वरूप समझाने के लिए उपदेश देते हैं; तो उनका उपदेश ग्रहण करके अभेद आत्मा का अनुभव करनेवाला शिष्य भी उपस्थित है ही। दाता जागे और दान लेने वाला न निकले, ऐसा नहीं हो सकता।—तीर्थंकर भगवान को दिव्यध्वनि प्रवाहित हो और उसे झेलनेवाले गणधरादि ने हो, ऐसा नहीं हो सकता। श्री महावीर भगवान को केवलज्ञान होने के पश्चात् छियासठ दिन तक तो वाणी नहीं खिरी; परन्तु जब श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन दिव्यवाणी प्रवाहित हुई, वहाँ सामने गणधर पद के लिये गौतम तैयार थे। उसी प्रकार यहाँ अज्ञानी निकटवर्ती शिष्य को, आत्मा में गुण-गुणी का भेद व्यवहार से उत्पन्न करके आचार्यदेव अभेद आत्मस्वरूप समझाते हैं और वह तत्कालबोधक उपदेश प्राप्त करके शिष्य अंतर में अभेद आत्मस्वभावोन्मुख होकर तुरन्त ही समझ जाता है।—ऐसे निकटवर्ती शिष्य को ही यहाँ लिया है।

स्वभाव से तो आत्मा को अभेदपना है; भेद का विकल्प उठे, वह उसके स्वरूप में नहीं है, परन्तु नवीन उत्पन्न होता है—ऐसा बतलाने के लिये यहाँ आचार्यदेव ने कहा है कि "धर्म और धर्मी का स्वभाव से अभेद है, तथापि नाम से भेद उत्पन्न करके—व्यवहारमात्र से ही ऐसा उपदेश है कि

ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है।'' परन्तु जो पण्डित पुरुष परमार्थ से अभेद आत्मस्वरूप का अनुभव करते हैं, उनके गुण-गुणी के भेद का विकल्प उत्पन्न नहीं होता, उनके तो आत्मा शुद्ध ज्ञायक ही है। देखो! ऐसे अपने आत्मा को समझना ही सच्चा कर्तव्य है। जो ऐसे आत्मा को समझे, उसकी को आचार्यदेव पण्डित कहते हैं।

आत्मा के जिस परमार्थ स्वरूप को जाने बिना जीव अनादिकाल से दु:खी हो रहा है, वह परमार्थ स्वरूप जानने की अब जिसे कामना जागृत हुई है और भेद का निषेध करके अभेद आत्मस्वरूप में ढलने की जिज्ञासा से जिसे प्रश्न उठा है—ऐसे, समझ के निकटवर्ती शिष्य को समझाने के लिये श्री आचार्यदेव को विकल्प उठा है। यह पंचमकाल है, इसलिये यहाँ उपदेशकरूप से श्री तीर्थंकरदेव को नहीं लिया है परन्तु आचार्यदेव को लिया है। वे आचार्यदेव अभेद आत्मस्वरूप समझाने के लिये, अभेद में भी भेद उत्पन्न करके उपदेश देते हैं; क्योंकि शिष्य को अभी अभेद स्वरूप के अनुभव की खबर नहीं है, इसलिये उसे समझाने के लिये कथन में भेद करके व्यवहार से उपदेश देते हैं; परन्तु वहाँ प्रयोजन तो अभेद स्वरूप को बतलाने का ही है; व्यवहार का आश्रय कराने का प्रयोजन नहीं है। इसलिये यदि भेद का निषेध करके अभेद स्वरूपोन्मुख हो, तभी परमार्थ आत्मा समझ में आता है, किन्तु यदि भेद का ही आश्रय करके रुक जाये तो परमार्थ आत्मा लक्ष में नहीं आता। जैसे—कोई मनुष्य किसी दूसरे को अँगुली से बतलाकर कहे कि 'देखो यह चन्द्रमा!' वहाँ उसका प्रयोजन चंद्रमा बतलाने का है, कहीं अँगुली बतलाने का उसका प्रयोजन नहीं है। यदि अँगुली की ओर देखता रहे तो चन्द्रमा दिखलाई नहीं देता, किन्तु अँगुली का लक्ष छोड़कर चंद्रमा की ओर लक्ष करे, तब वह दिखाई देता है। उसी प्रकार ''ज्ञान वह आत्मा''—ऐसा गुण-गुणी भेदरूप जो व्यवहार-कथन है, उसका प्रयोजन भी परमार्थस्वरूप आत्मा को ही बतलाने का है। सुननेवाला जब भेद का लक्ष छोड़कर अभेद स्वरूप को लक्ष में लेता है, तभी भेद को व्यवहार कहा जाता है; यदि अभेदस्वरूप को लक्ष में न ले और अकेले व्यवहार के ही लक्ष में रुक जाये तो उसके लिये भेद को व्यवहार नहीं कहा जाता। यहाँ तो जिसे अंतर में अभेद ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलने की रुचि है-ऐसी निकटवर्ती शिष्य को लिया है।

अज्ञानी होने पर भी 'निकटवर्ती' कहकर आचार्यदेव ने शिष्य की समझने की योग्यता बतलाई है। भेद का-व्यवहार का निषेध करके जिसे अभेद स्वभाव की ओर ढलने की रुचि है और उसकी बात सुनने के लिये जो रुचिपूर्वक खड़ा है—ऐसा शिष्य, द्रव्य से और भाव से निकटवर्ती

है।—ऐसा शिष्य अल्पकाल में आत्मस्वरूप समझ जायेगा और उसके लिये आचार्यदेव निमित्त कहलायेंगे। परन्तु जिस जीव को भेद का-व्यवहार का निषेध करके अभेदस्वरूप में ढलने की बात अच्छी नहीं लगती, और व्यवहार के आश्रय से धर्म मानकर उसी को पकड़ में अटक गया है, वह जीव समझने के लिये निकटवर्ती नहीं है; उसके उपादान में भेद का निषेध करके अभेदस्वरूप में ढलने की योग्यता नहीं है; इसलिये वह आचार्यदेव को समझने का निमित्त कहे—ऐसा प्रसंग ही उसके नहीं आना है। इसलिये आचार्यदेव वैसे जीव को निमित्तरूप से भी नहीं समझाते।

जिस शिष्य ने अभी अभेद आत्मा को ग्रहण नहीं किया है, किन्तु अभेद स्वरूप समझने का कामी है-निकटवर्ती है, ऐसे शिष्य को समझाने के लिये आचार्यदेव अभेद में भेद उत्पन्न करके समझाते हैं। जिन ज्ञानियों ने अभेद स्वरूप को पकड़ लिया है, उनको कहीं अभेद द्वारा भेद समझाना नहीं रहा है; और जो जीव परमार्थस्वरूप समझने का कामी नहीं है, उसे भी आचार्यदेव उपदेश नहीं करते। जो जीव परमार्थ आत्मा का स्वरूप समझने का जिज्ञासु हो औा आराधक होकर अल्पकाल में सिद्ध होनेवाला हो—ऐसे ही जीव को यहाँ आचार्यदेव ने निकटवर्ती शिष्यरूप से लिया हैं। 'मैं सिद्ध और तू भी सिद्ध'—इस प्रकार पहले से ही आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके बात प्रारम्भ की है; वह श्रावण करते हुए जिसने अपने आत्मा में रुचिपूर्वक सिद्धत्व की स्थापना की है, उसने स्वयं अल्पकाल में सिद्ध होने के लिये उस सिद्धत्व की स्थापना की है। आत्मा के सिद्धत्व का स्वीकार करके जो उल्लासपूर्वक इस अभेद परमार्थ आत्मा का श्रवण करने के लिये तत्पर है, वह निकटवर्ती शिष्य, परमार्थ आत्मस्वरूप को समझकर सिद्ध हो जायेगा।

[श्री समयसार गाथा ७ के प्रवचन से]

ज्ञानी 'ना' कहते हैं

आत्मा की सत्ता कैसी है, उसकी खबर न होने से उपयोग कहीं अन्यत्र भटकता है और मानता है कि मैंने इतनी क्रिया की, इससे मुझे धर्म होता है।—परन्तु ज्ञानी इन्कार करते हैं और कहते हैं कि भाई रे! प्रथम तू अपने को समझ; सच्ची समझपूर्वक अपनी स्वतंत्रता का निर्णय कर।

[श्री समयसार से]

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की
कुछ शक्तियाँ

[६]

वीर्यशक्ति

आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं; उनमें से जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति, दृशिशक्ति, ज्ञानशक्ति और सुखशक्ति का वर्णन किया। अब छट्ठी वीर्यशक्ति का वर्णन करते हैं। अपने स्वरूप की रचना के सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति है। इस वीर्यशक्ति ने पूर्ण चैतन्यवस्तु को स्वरूप में स्थित कर रखा है। वीर्यशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में विद्यमान है। पर्याय में भी अपनी रचना का सामर्थ्य है। वस्तु के अनंत गुण हैं, वे सब निज-निज स्वरूप से अनादि-अनंत विद्यमान हैं। ज्ञान अनादि-अनंत ज्ञानरूप से बना रहता है, सुख अनादि-अनंत सुखरूप से टिका रहता है, अस्तित्व अनादि-अनंत अस्तित्वरूप से टिका रहता है—ऐसा प्रत्येक गुण का सामर्थ्य है। जिस प्रकार गुण अनादि-अनंत निजस्वरूप से टिका रहता है, ऐसा वीर्यगुण है; उसी प्रकार अनादि-अनंत पर्यायों में प्रत्येक पर्याय अपने स्वरूप में प्रतिसमय के सत्‌रूप से बनी रहती है; कोई पर्याय अपना स्वरूप छोड़कर इधर-उधर नहीं होती—ऐसा प्रतिसमय की पर्याय का वीर्य है।

द्रव्य-गुण और निर्मल पर्याय, वह आत्मा का स्वरूप है; उस स्वरूप की रचना के सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति आत्मा में त्रिकाल है। यह शक्ति स्वरूप की ही रचना करती है; जो राग की रचना करे, वह आत्मवीर्य नहीं है। यदि वीर्यशक्ति, राग की रचना करती हो, तब तो सदैव राग को रचती ही रहे! तब फिर रागरहित मुक्तदशा कब होगी? इसलिये शुभराग को जमाये या रागादि विकार की रचना-उत्पत्ति करे, ऐसा चैतन्य की वीर्यशक्ति का स्वरूप नहीं है। परवस्तु में कुछ भी उथल-पुथल करे, ऐसा तो आत्मा का बल नहीं है; और विकार करे, ऐसा भी वास्तव में आत्मा का बल नहीं है। आत्मा का बल तो अपने स्वरूप की रचना करने का है। आत्मा में एक ऐसा चैतन्यबल है कि किसी दूसरे की सहायता के बिना स्वयं अपने स्वरूप की रचना करता है। यहाँ 'स्वरूप की रचना' करना कहा, उसका अर्थ क्या? कहीं स्वरूप को नवीन नहीं बनना है, किन्तु

आत्मा की सत्ता निरन्तर निजस्वरूप में स्थित रहती है, उसका नाम ही स्वरूप की रचना है। आत्मा अपने धर्मों के द्वारा विकार की या पर की रचना नहीं करता। 'मैं पर की रचना कर दूँ'—ऐसी कल्पना अज्ञानी करता है, वह उसकी मूढ़ता है। शरीर, मकान की, वचन की आदि किसी भी पर द्रव्य की रचना करने की शक्ति आत्मा में है ही नहीं। अमुक आहार को ग्रहण करना और अमुक को छोड़ना—ऐसी आहार की रचना करने की सामर्थ्य आत्मा में नहीं है; वे समस्त जड़ की क्रियाएँ जड़ वीर्य से अर्थात् पुद्गल के सामर्थ्य से होती है, आत्मा का किंचित् भी बल उसमें नहीं चलता। दया अथवा हिंसादि राग को बनाए—ऐसा भी आत्मा का सामर्थ्य नहीं है। द्रव्य-गुण-पर्यायमय अखण्ड तत्त्व को स्वरूप में टिका रखे—ऐसी आत्मा की वीर्यशक्ति है। यहाँ शक्ति के वर्णन द्वारा शक्तिमान पूर्ण आत्मा को बतलाया है; प्रतीति का—द्रव्यदृष्टि का विषय बतलाया है। यह तो आचार्यदेव के महामंत्र हैं। जिस प्रकार बीन का मधुर नाद सुनकर सर्प बाहर निकलता है और विष को भूलकर डोलने लगता है; उसी प्रकार चिदानंदी आत्मा के अनंतगुणों के वर्णनरूपी आचार्यदेव की सुमधुर बीन का नाद सुनकर भव्य आत्मा जागृत होता है और विकार को भूलकर अपने स्वरूप में डोल उठता है कि अहो! मैं तो त्रिकाल अपने अनंत गुणों से परिपूर्ण हूँ, मेरे गुण किसी अन्य की सहायता के बिना स्वयं अपने स्वभावसामर्थ्य से टिक रहे हैं।—इस प्रकार अपनी शक्ति की संभाल करके आत्मा आनंद में डोल उठता है।

आत्मा के स्वरूप में संसार है ही नहीं; वीतरागदेव की वाणी में कहा गया द्रव्यलिंगी मुनि का या सम्यग्दृष्टि का जो व्यवहार है, उस व्यवहार के शुभराग की रचना करने का बल आत्मा में नहीं है। यदि आत्मा में राग को रचने की शक्ति हो, तब तो वह त्रिकाल राग की ही रचना करता रहे। राग तो क्षणिक है और यह वीर्यशक्ति त्रिकाल है। प्रत्येक आत्मा में अनंतशक्ति है, परन्तु उसमें कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है कि जो संसार की रचना करे। आत्मा के स्वरूप में विकार भरा नहीं है, तब फिर आत्मा की शक्ति विकार को कहाँ से रचेगी? जीव पर्यायबुद्धि से ही संसार-परिणाम को उत्पन्न करता है, पर्यायबुद्धि में ही संसार की (विकार की) रचना है, स्वभावबुद्धि में संसार की रचना नहीं है। यहाँ स्वभावदृष्टि से ४७ शक्तियों का वर्णन किया है। आत्मा की वीर्यशक्ति ऐसी है कि वह द्रव्यदृष्टि से स्वरूप की ही रचना करती है। वह विकार को अपने स्वरूप में स्वीकार नहीं करती। जो ऐसी स्वभावशक्ति का स्वीकार करे, उसका वीर्यबल स्वभावोन्मुख हुए बिना नहीं रहेगा और उसके पर्याय में भी निर्मल-निर्मल पर्यायों की ही रचना होने लगेगी।

अनंत गुणों के पिण्डरूप सम्पूर्ण द्रव्य को टिका रखे—ऐसी आत्मवीर्य की शक्ति समस्त गुणों में व्यापक है, इसलिये समस्त गुण, निजस्वरूप से ही टिके रहते हैं; कोई गुण अन्य गुणरूप नहीं हो जाता।

आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं, उनमें से प्रत्येक प्रदेश अनादि-अनंत निजस्वरूप से रहता है; एक प्रदेश कभी दूसरे प्रदेशरूप नहीं होता; असंख्य प्रदेश जैसे के तैसे अखंडित स्वप्रदेशरूप से विराज रहे हैं—ऐसा आत्मा का क्षेत्रवीर्य है।

और प्रत्येक गुण की अनादि-अनंतकाल की अवस्थाओं में प्रत्येक समय की अवस्था का वीर्य स्वतंत्र है; उस अवस्था का वीर्य ही अवस्था की रचना करता है। अवस्था का प्रत्येक समय का वीर्य भिन्न-भिन्न है और द्रव्य-गुण का वीर्य त्रिकाल है।

इस प्रकार आत्मा की वीर्यशक्ति द्रव्य के सामर्थ्य को टिका रखती है; अनंत गुणों को निज-निज स्वरूप से टिका रखती है; और प्रत्येक समय की पर्याय की रचना करती है;—ऐसी स्वरूप-रचना करने का उसका सामर्थ्य है। परन्तु आत्मा अपने वीर्यसामर्थ्य द्वारा पर की रचना नहीं कर सकता। शरीर को टिकाना अथवा भाषा की रचना करना, वह आत्मा के वीर्य का कार्य नहीं है। आत्मा का स्वभाववीर्य विकार की या जड़ की रचना नहीं करता। पर्याय में एक समयपर्यन्त की विकार की योग्यता है, वह आत्मवीर्य का स्वभाव नहीं है; त्रिकाल शक्ति में विकार की योग्यता भी नहीं है। ऐसी स्वभावशक्ति की प्रतीति कराने के लिये यहाँ द्रव्यदृष्टि से, विकार में अटकनेवाले वीर्य को आत्मा का वीर्य माना ही नहीं है। चैतन्य के द्रव्य-गुण-पर्याय की रचना करे—ऐसा वीर्यशक्ति का सामर्थ्य है; वे द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों निर्मल हैं। प्रथम अपने ऐसे स्वभाव का विश्वास आये तो उसके बल से साधकदशा का विकास होता है।

जो विकार की रचना करने का ही अपने वीर्य का सामर्थ्य मानता है, उसके तो पूरे आत्मा को ही विकारी माना है। किसी भी विकार में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह बढ़कर एक समय से अधिक टिक सके; क्योंकि आत्मा की वीर्यशक्ति विकार की रचना नहीं करती। अहो! भगवान आत्मा विकारभाव की रचना भी नहीं करता, तब फिर जगत की-सृष्टि की रचना तो कहाँ से करेगा? कोई भी आत्मा पर की रचना करता है—ऐसा मानना, वह महान मूढ़ता है, महान अधर्म है। जिनके अनंत आत्मबल प्रगट हुआ है—ऐसे सिद्ध भगवान में भी पर की रचना करने का सामर्थ्य किंचित्मात्र नहीं है। अपने स्वरूप की रचना का परिपूर्ण सामर्थ्य है और पर की रचना का किंचित् भी सामर्थ्य नहीं है—ऐसी अस्ति-नास्ति है। यह छह द्रव्यमय सृष्टि स्वयंसिद्ध है, कोई

उसका रचयिता नहीं है। 'रचना करनेवाला ईश्वर है'—ऐसा कहकर अज्ञानी लोग पर को जगत का रचयिता मानते हैं; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा स्वयं ही अपनी रचना करनेवाला ईश्वर है; यह वीर्यशक्ति ही स्वरूप की रचना करती है। आत्मा स्वयं ही अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की रचना वीर्यशक्ति द्वारा करता है; इसके अतिरिक्त कोई ईश्वर या निमित्त आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय की रचना करनेवाले नहीं हैं। ऐसी वीर्यशक्ति आत्मा में त्रिकाल है। ऐसी अनंतशक्तियों से अभेदरूप आत्मा को प्रतीति में लेना वह प्रथम धर्म है।

❋ ❋ ❋ ❋

ज्ञान, सुख, वीर्यादि अनंत गुण आत्मा में है; उन समस्त गुणों का आधार आत्मा ही है, किसी राग या शरीरादि के आधार से वे गुण विद्यमान नहीं है और न मात्र पर्याय के ही आधार से हैं। जिसप्रकार वे शक्तियाँ स्थित रहने के लिये किसी अन्य का आधार नहीं रखतीं, उसी प्रकार परिणमित होने के लिये भी किसी अन्य का आश्रय नहीं करतीं। यहाँ आत्मा की शक्तियों के वर्णन में पर की और विकार की उपेक्षा है।

आत्मा में 'वीर्य' नामक शक्ति त्रिकाल है। वीर्य अर्थात् आत्मबल; वह आत्मा के ही आधार से है। शरीर निर्बल हो या बलवान हो, वह आत्मशक्ति का कार्य नहीं है; शरीर से तो आत्मा की शक्तियाँ अत्यन्त भिन्न हैं। वर्तमान अवस्था की रचना हो, उसमें अवस्था का स्वतंत्र सामर्थ्य है; अवस्था की रचना करे—ऐसा अवस्था का वीर्य है। त्रिकाली वीर्यशक्ति के वर्तमान परिणमन में ही वर्तमान अवस्था की रचना करने का सामर्थ्य है। जो ऐसा स्वीकार करें, उसकी बुद्धि त्रिकाली तत्त्व पर जाती है, क्योंकि वीर्यशक्ति मात्र पर्याय जितनी नहीं है किन्तु वह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में विद्यमान है।

वीर्यशक्ति कहो या पुरुषार्थ कहो, वह एक ही है। आत्मा की प्रत्येक पर्याय में पुरुषार्थ का परिणमन साथ ही रहता है। पुरुषार्थरहित आत्मा एक समय भी नहीं होता।

कोई कहे कि "जैन लोग तो सर्वज्ञ को मानते हैं, इसलिये उसमें पुरुषार्थ नहीं है; क्योंकि सर्वज्ञ भगवान ने देखा होगा, तब मोक्ष होगा; इसलिये मोक्षमार्ग में जीव का पुरुषार्थ नहीं है"—तो उस मिथ्यादृष्टि का तर्क विपरीत है। मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ नहीं है—ऐसा जो कहता है, उसने मोक्षमार्ग में आत्मा को ही नहीं माना है। क्योंकि जहाँ पुरुषार्थ नहीं है, वहाँ आत्मा नहीं है।

(अपूर्ण)

''आत्मा कौन है
और
कैसे प्राप्त होता है ?''

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है;
उस पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार

लेखांक ८] [अंक ९४ से आगे

[श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि—''प्रभो ! यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?'' उसके उत्तर में श्री आचार्यदेव कहते हैं कि 'आत्मा अनन्त धर्मवाला एक द्रव्य है, और अनन्त नयात्मक श्रुतज्ञानप्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है।'—ऐसे आत्मद्रव्य का यहाँ ४७ नयों से वर्णन चल रहा है; उसमें द्रव्यनय, पर्यायनय, अस्तित्व-नास्तित्व आदि सप्तभंगी के सात नय, विकल्पनय, अविकल्पनय, नामनय और स्थापनानय—इन तेरह नयों से आत्मद्रव्य का जो वर्णन किया उसका विवेचन अभी तक आ चुका है। आगे यहाँ दिया जाता है।]

[१४] द्रव्यनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य अनंतधर्म स्वरूप है; उसे द्रव्यनय से देखने पर वह बालक सेठ की भांति और श्रमण राजा की भांति प्रतिभासित होता है। जिसप्रकार—कोई बालक भविष्य में सेठ होनेवाला हो तो ''यह सेठ है''—इसप्रकार वह भावी पर्यायरूप से ख्याल में आता है, तथा कोई जीव पहले राजा हो और फिर मुनि हो गया हो तो ''यह राजा है''—इसप्रकार भूतकाल की पर्यायरूप से वह ख्याल में आता है। उसी प्रकार द्रव्यनय से जीवद्रव्य अपनी भावी और भूतकाल की पर्यायोंरूप से ख्याल में आता है—ऐसा उसका धर्म है।

आत्मा वर्तमान पर्यायरूप से ही ज्ञात होता है; और भूत-भविष्य की पर्यायरूप से इससमय

ज्ञात नहीं हो सकता—ऐसा नहीं है; द्रव्य अपनी भूत-भविष्य की पर्यायोंरूप से भी वर्तमान में ज्ञात होता है—ऐसा उसका धर्म है, और ज्ञान का भी त्रिकाल को जान लेने का स्वभाव है। ''भविष्य की पर्याय जब होती है, तब उसे जानता है, इससमय नहीं जानता''—ऐसा जो मानता है, उसे सर्व ज्ञानी या वस्तु के स्वभाव की खबर नहीं है। किसी आत्मा को भविष्य में सिद्ध-पर्याय होना हो, वहाँ ''यह आत्मा सिद्ध है''—इसप्रकार भावी पर्यायरूप से वर्तमान में द्रव्य ज्ञात होता है। भूत-भविष्य की पर्यायोंरूप से वर्तमान में ज्ञात हो—ऐसा द्रव्य का धर्म है, और उस धर्म को जाननेवाले श्रुतज्ञान को द्रव्यनय कहते हैं।

प्रथम द्रव्यनय कहा था और यह चौदहवाँ द्रव्यनय कहा है; इन दोनों के विषय में अन्तर है। पहले जो द्रव्यनय कहा, उसका विषय तो सामान्य चैतन्यमात्र द्रव्य है, और इस द्रव्य का विषय तो भूत-भविष्य पर्यायवाला द्रव्य है, इसलिये यहाँ पर्याय की बात है।

द्रव्य की जो-जो पर्यायें भूतकाल में हुई और जो-जो भविष्य में होना हैं, उन-उन पर्यायोंरूप से द्रव्य वर्तमान में ज्ञात हो—ऐसा उसका स्वभाव है। जिस द्रव्य में जिस-जिस प्रकार की भविष्य की पर्याय होना है, उस-उस प्रकार का धर्म उस द्रव्य में त्रिकाल विद्यमान है। भविष्य की पर्यायें तो उनके अपने काल में होंगी, परन्तु जो पर्यायें होना हैं, वैसा धर्म तो वास्तव में अनादि-अनन्त है ही। समस्त द्रव्यों में अपनी-अपनी त्रिकाली पर्यायें होने का धर्म विद्यमान है। भविष्य में कोई आत्मा सिद्ध होनेवाला हो और इससमय वह निगोद में पड़ा हो, उस निगोद के आत्मा में भी सिद्धपर्याय होने का धर्म तो वर्तमान में पड़ा है। वर्तमान में उसे सिद्ध पर्याय प्रगट नहीं है किन्तु भविष्य में जो सिद्ध पर्याय होना है, वह पर्याय होने का धर्म तो उस में वर्तमान भी विद्यमान है।

●●●

''द्रव्यस्वभाव का'' वर्णन—

जिसमें क्रमबद्धपर्याय का मुख्य सिद्धांत भी विशिष्टरूप से समझ में आ जाता है

श्री ऋषभदेव, महावीर आदि भगवन्तों के आत्मा को इससमय तो सिद्धदशा वर्त रही है; उन सिद्ध जीवों के पूर्वकाल में तीर्थंकर पर्याय थी; द्रव्यनय से उनका आत्मा इससमय भूतकाल की तीर्थंकर पर्यायरूप से पहिचाना जाता है। ऋषभादि चौबीस भगवन्त वर्तमान में तीर्थंकररूप से नहीं विचर रहे हैं; इस समय तो वे सिद्धदशा में विराज रहे हैं; तथापि वर्तमान में उन्हें तीर्थंकररूप से लक्ष में लेकर उनकी स्तुति-पूजा करना, वह द्रव्यनय है; और भूतकाल की तीर्थंकरादि पर्यायरूप से इस समय लक्ष में आता है—ऐसा उस आत्मद्रव्य में धर्म है। इसी प्रकार भविष्यकाल की पर्यायरूप से लक्ष में आये—ऐसा द्रव्य का धर्म है। जैसे-श्रेणिक राजा का आत्मा इस समय तो नरक में है; वे भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले हैं। ''यह तीर्थंकर हैं''—इस प्रकार भविष्य की तीर्थंकर पर्यायरूप से उन्हें इस समय लक्ष में लेना, वह द्रव्यनय है। भविष्य की तीर्थंकर पर्यायरूप से वर्तमान में लक्ष में आते हैं, वैसा आत्मा में धर्म है। वर्तमान में तो नरकपर्याय है, तथापि भूतकाल की श्रेणिक पर्यायरूप से और भविष्य की तीर्थंकर पर्यायरूप से वह आत्मा ख्याल में आता है—ऐसा उसका एक धर्म है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव पहले मुनिदशा में थे; और इस समय उनका आत्मा स्वर्ग में है। पूर्व की मुनिदशारूप से उनके आत्मा को इस समय लक्ष में लेना, वह द्रव्यनय है। यह भूतकालीन पर्याय की बात की; उसीप्रकार भविष्य की पर्याय का भी समझना। द्रव्य में तीनों काल की पर्यायें निश्चित हैं; यदि द्रव्य की त्रिकाल की पर्यायें निश्चित् न हों तो भूत-भविष्य की पर्यायोंरूप से उसका ज्ञान नहीं हो सकता। द्रव्य की तीनों काल की पर्यायें निश्चित् हैं—ऐसा निर्णय किया, उसमें पुरुषार्थ उड़ नहीं जाता, किन्तु उसमें तो द्रव्य की सन्मुखता होकर मोक्षमार्ग का अपूर्व पुरुषार्थ प्रगट हो जाता है; क्योंकि भविष्य की पर्याय का निर्णय करते हुए द्रव्य के सन्मुख होकर द्रव्य का ही निर्णय हो जाता है। इसलिये उसमें द्रव्यदृष्टि का पुरुषार्थ आ जाता है। द्रव्य की ओर उन्मुखता होकर द्रव्य-पर्याय की एकता हुई, वही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है, इससे भिन्न अन्य कोई पुरुषार्थ नहीं है।

जिस द्रव्य में चक्रवर्तीपना, तीर्थंकरपना, सिद्धपना आदि पर्यायें होती हैं, उस द्रव्य में वैसा स्वभाव अनादि से ही है। तीर्थंकर होनेवाले अमुक आत्मा ही होते हैं और उन्हीं को तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है; इसके अतिरिक्त अन्य सामान्य जीव सोलह भावनाओं का चिंतवन करके तीर्थंकर नामकर्म का बंध करना चाहें तो इस तरह तीर्थंकर नामकर्म का बंध नहीं हो सकता। तीर्थंकर होनेवाले विशिष्ट आत्मा में ही तीर्थंकर पर्याय होने का अनादिस्वभाव होता है। इसीप्रकार चक्रवर्तीपना, गणधरपना, बलदेवपना, वासुदेवपना—इत्यादि पर्यायों का होना भी उस-उस प्रकार के विशिष्ट आत्माओं में अनादि से सिद्ध हुआ है, ऐसा उन-उन द्रव्यों का अनादि-स्वभाव है। वे तीर्थंकरादि पर्यायें जब प्रगट होती हैं, तब तो वह भावनय का विषय है। और वह पर्याय प्रगट होने से पूर्व अथवा प्रगट होने के पश्चात् उस पर्यायरूप द्रव्य को जानने का नाम द्रव्यनय है। कोई जीव भूतकाल में तीर्थंकर हो गये और कोई भविष्य में होंगे; वे वर्तमान में "यह जीव तीर्थंकर है"—इस प्रकार भूतभावी पर्यायरूप से लक्ष में आता है—ऐसा उस द्रव्य का धर्म है और उस धर्म द्वारा आत्मा को लक्ष में लेनेवाले ज्ञान को द्रव्यनय कहते हैं।

सभी जीवों की पर्याय एक-सी नहीं होती, भिन्न-भिन्न होती है; ऐसी पर्याय होने का द्रव्य का स्वभाव अनादि से निश्चित हो गया है। द्रव्य की पर्याय का जो अनादि संतति प्रवाह निश्चित हो चुका है, उसमें कुछ भी उल्टा-सीधा या फेरफार नहीं हो सकता। कोई जीव बलदेव होता है, कोई चक्रवर्ती होता है, कोई तीर्थंकर होता है; कोई एक ही भव में तीर्थंकर और चक्रवर्ती दोनों पदवी प्राप्त करता है; कोई सामान्य केवली होकर मोक्ष प्राप्त करता है—इत्यादि पर्यायों की योग्यता उस-उस द्रव्य के स्वभाव में अनादि से ही है। पर्याय अपेक्षा से वह पर्याय नवीन प्रगट होती दिखाई देती है; किन्तु द्रव्य के स्वभाव में तो अनादि से ही वह पर्याय होना निश्चित हो गया है। ऐसा द्रव्य का स्वरूप जो निश्चित करे, उसके पर्यायबुद्धि छूटकर द्रव्य की प्रतीति हो गई, वह साधक हो गया; अब द्रव्य के आश्रय से उसे अल्पकाल में सिद्धपर्याय प्रगट हो जायेगी, इसलिये द्रव्यनय से तो वह वर्तमान में सिद्ध हो गया है। इसप्रकार साधक जीव इन नयों द्वारा स्वयं अपने आत्मा को देखता है—ऐसी यहाँ बात है; अज्ञानी के तो नय होते ही नहीं। कोई जीव भविष्य में भगवान होने वाला है, किन्तु वर्तमान में अज्ञानी है; तो उस अज्ञानभाव के समय भी भविष्य में सिद्ध होने का उसके द्रव्य का स्वभाव है, किन्तु उसे स्वयं उसकी खबर नहीं है; दूसरा ज्ञानी अपने ज्ञान की निर्मलता से उसे जान लेता है। वर्तमान में अज्ञानदशा होने पर भी भविष्य में भगवान होने का उसी आत्मद्रव्य का

धर्म उसमें वर्तमान विद्यमान है;—ऐसा जो जाने, उसे पर्यायबुद्धि से राग-द्वेष न हो और अपने में वर्तमान अज्ञानदशा न रहे।

वर्तमान पर्याय में अज्ञापनीपना और उसी क्षण उसमें भविष्य में सिद्ध पर्याय होने का धर्म!—इस धर्म का निर्णय किसके समक्ष देखकर करेगा? वर्तमान में अज्ञान-पर्याय है, उसके समक्ष देखने से कहीं भविष्य की सिद्धपर्याय का निर्णय नहीं हो सकता। सिद्धपर्याय होने की शक्ति तो द्रव्य के स्वभाव में भरी है, इसलिये अपने द्रव्यस्वभाव का निर्णय हुए बिना 'यह जीव भविष्य में सिद्ध होनेवाला है'—ऐसा सामनेवाले जीव के धर्म का निर्णय नहीं हो सकता। इस प्रकार, भविष्य की पर्यायरूप से ज्ञात हो, ऐसा द्रव्य का स्वभाव है; उसे जो जाने, वह वर्तमान में स्वयं साधक हो जाता है। वस्तु में जो पर्यायें होती हैं, वे पर्यायें होने का स्वभाव तो उसमें अनादिकालीन है, इसलिये वस्तु में प्राप्त की ही प्राप्ति है। द्रव्य का स्वभाव ही अनादि-अनंत पर्यायों से व्यवस्थित है।

आत्मा में भूतकाल में जो पर्यायें हुईं अथवा भविष्यकाल में जो पर्यायें होंगी, उन-उन पदों का पदवीधर आत्मा स्वयं है; जीवद्रव्य का स्वभाव ही ऐसा है कि द्रव्यनय से वह भूत-भावी पर्यायोंरूप से ज्ञात होता है। जिस जीव के भविष्य में जो पर्याय होना ही नहीं है और भूतकाल में भी नहीं हुई, उसमें उसप्रकार की पर्याय होने का धर्म ही अनादि-अनंत नहीं है; और जिस जीव को भविष्य में जिसप्रकार की पर्याय होना है, उसमें उसप्रकार की पर्याय होने का धर्म अनादिकाल से विद्यमान है। द्रव्यनय से जिस द्रव्य में जो पदवी स्थित है, वह बदलती नहीं है और जो पदवी न हो, वह नवीन नहीं होती। इसमें क्रमबद्धपर्याय के महान सिद्धान्त का भी समावेश हो जाता है।

अहो! भावी पर्यायरूप से वर्तमान में लक्षित हो—ऐसा भी द्रव्य का धर्म है। अनादि-अनन्तकाल के समयों में जैसी-जैसी पर्यायें हैं, वैसा द्रव्य का अनादिस्वभाव ही है; इसलिये "मैं ऐसी पर्यायरूप होऊँ"—ऐसी पर्याय की इच्छा (पर्याय की भावना) यथार्थ नहीं है। परन्तु पर्याय होने का धर्म द्रव्य में है—इसप्रकार द्रव्य को लक्ष में लेकर उसकी भावना में एकाग्र होने से ज्ञान निर्विकल्प होता है और निर्मल पर्याय प्रगट हो जाती है। ज्ञानी की दृष्टि में द्रव्य की ही भावना है; उसे पर्याय की बुद्धि नहीं है; इसलिये 'ऐसी पर्याय को दूर करूँ और ऐसी पर्याय प्रगट करूँ'—ऐसा पर्यायबुद्धि का विषमभाव या संकल्प-विकल्प उसके नहीं होते। "ज्ञानी मोक्ष की भावना भाते हैं"—ऐसा कभी-कभी व्यवहार से कहा जाता है; परन्तु वास्तव में तो ज्ञानी की दृष्टि में अखण्ड द्रव्य की ही भावना है। भविष्य की मोक्षपर्याय होने का धर्म द्रव्य में पड़ा है, इसलिये उस द्रव्य की

भावना में मोक्षपर्याय विकसित हो जाती है। ''ज्ञानी को बंध-मोक्ष के प्रति समभाव है''—इसका आशय यह है कि ज्ञानी को अखण्ड द्रव्य की भावना में ''बंध टालूँ और मोक्ष करूँ''—ऐसा पर्यायबुद्धि का विकल्प नहीं है। इसप्रकार द्रव्य की भावना में ही मोक्ष का वीतरागी पुरुषार्थ आ जाता है। पर्याय की भावना में राग की उत्पत्ति होती है।

तीनकाल की पर्यायरूप से द्रव्य ज्ञात होता है—ऐसे द्रव्यस्वभाव का जिसने निर्णय किया, उसके पर्याय की भावना नहीं रहती, परन्तु स्वभावबुद्धि से ही उसका परिणमन होता है; इसलिये उसकी पर्याय प्रतिक्षण निर्मल होती जाती है। ''अमुक पर्याय को बदलकर अमुक पर्याय करूँ''—ऐसी पर्यायबुद्धि उसे नहीं रहती। पर्यायें तो द्रव्य के स्वभावानुसार होती हैं और द्रव्य का स्वभाव अनादि-अनंत स्वयंसिद्ध है।—ऐसे द्रव्यस्वभाव का जिसने निर्णय किया, उसका ज्ञान, स्वभाव के आश्रय से निर्मल ही हो गया है और उसे मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो गया है। अब यह पर्याय पद के सन्मुख नहीं देखता; द्रव्य की मुख्यता की भावना में अल्पकाल में उसकी मुक्ति हो जाती है।

जहाँ द्रव्य के स्वभाव का निर्णय करके ज्ञान उसमें एकाग्र हुआ, वहाँ बीच में तीर्थंकरादि कैसी पदवी आती है, उस पर ज्ञान का भार नहीं रहा। ज्ञान ने सम्पूर्ण द्रव्य को विश्वास में ले लिया; उस द्रव्य में जो-जो पद भरे हैं, वे बाहर आये बिना नहीं रहेंगे। जिसने सम्पूर्ण द्रव्य का निर्णय किया, उसे द्रव्य में से केवलज्ञान और सिद्धपद तो अल्पकाल में आये बिना रहेंगे ही नहीं। बीच में तीर्थंकरादि पद तो किसी को होते हैं और किसी को नहीं भी होते। तीर्थंकरादि जो भी पद बीच में होंगे, वे अवश्य आयेंगे ही।

जिस द्रव्य में जो पर्याय होने का धर्म है, उस द्रव्य में वह पर्याय हुए बिना नहीं रहेगी। जो-जो पर्याय होनेवाली है, उसप्रकार का द्रव्य का अनादिस्वभाव ही है; इसलिये प्राप्त की प्राप्ति है; द्रव्य में जो पर्याय होने का स्वभाव है, वही व्यक्त होती है। वस्तु का ऐसा धर्म का निर्णय करने से त्रिकाली द्रव्य का सम्यग्ज्ञान होता है; उस सम्यग्ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है। अनंतधर्मवाले वस्तुस्वभाव का निर्णय करके साधक जीव, स्वभाव के आश्रय से ज्ञाता-दृष्टारूप से स्व-परप्रकाशक रहा; वहाँ उसके ज्ञान के स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य का जैसा विकास होगा, वैसा ही ज्ञेय आएँगे, और द्रव्य में तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती आदि जो पर्याय होने का धर्म होगा, वही पर्याय होगी।

कोई आत्मद्रव्य ऐसे अनादि-स्वभाववाला होता है कि चक्रवर्तीपद प्राप्त करके मोक्ष जाता

है और कोई द्रव्य, तीर्थंकरपद प्राप्त करके मोक्ष जाता है; कोई द्रव्य चक्रवर्ती और तीर्थंकर—दोनों पद प्राप्त करके मोक्ष जाता है; कोई गणधर होकर मोक्ष जाता है, कोई बलदेव होकर मोक्ष प्राप्त करता है; कोई अनुक्रम से बलदेव और चक्रवर्ती—दोनों पद प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त करता है;—इसप्रकार द्रव्य का वैसा अनादिस्वभाव ही होता है। और कोई द्रव्य चक्रवर्ती, बलदेव या तीर्थंकरादि कोई भी पद प्राप्त किए बिना सामान्य केवली रूप से मोक्ष प्राप्त करता है—ऐसा भी उसका अनादिस्वभाव ही है। कोई जीव एक ही भव में चक्रवर्तीपद और तीर्थंकरपद—यह दोनों पद प्राप्त करता है; परन्तु बलदेव या वासुदेव पद हो और उसी भव में तीर्थंकरपद प्राप्त कर ले—ऐसा नहीं हो सकता। तीर्थंकररूप में मोक्ष जानेवाला वही पर्याय धारण करके मोक्ष जायेगा; उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता। बलदेव पर्याय प्राप्त करके मोक्ष जाने की योग्यतावाला जीव, बलदेव पर्याय धारण करके ही मोक्ष जाता है—तीर्थंकर होकर नहीं जाता।—इसप्रकार जिस द्रव्य में जो पर्याय होने को स्वभाव हो, वही पर्याय होती है। कोई कहे कि एक आत्मा तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करता है, और दूसरा सामान्यरूप से मोक्ष प्राप्त करता है; गुण दोनों में समान हैं; तथापि ऐसा क्यों ? तो यहाँ कहते हैं कि वैसी ही पर्याय होने का उस द्रव्य का अनादि धर्म है। अहो ! इसमें निर्विकल्पता है-वीतरागता है। 'ऐसा क्यों ?'—कि ऐसा ही उस द्रव्य का स्वभाव है। इसलिये अपने को अपने द्रव्यस्वभाव के सन्मुख देखने से ज्ञाता-दृष्टाभाव हो जाता है।—ऐसा इस निर्णय का फल है।

''पर के कारण मेरी पर्याय होती है, अथवा मैं पर की पर्याय में कुछ फेरफार कर दूँ''—ऐसी मान्यता के भाव में तो मिथ्यात्व की अनंत विषमता है; और मैं अपनी पर्यायों में फेरफार कर दूँ—ऐसी जो पर्याय को बदलने की बुद्धि है, उसमें भी पर्यायबुद्धि की विषमता है। धर्मी जीव तो जानता है कि मेरी जो पर्याय होना है, वह मेरे ही द्रव्य में से होना है, और मेरे द्रव्य के स्वभावानुसार ही वह होना है; इसलिये द्रव्यस्वभाव के आश्रय से उसके पर्यायबुद्धि का विषमभाव दूर हो गया है। वह साधक जीव अपनी एक-एक पर्याय को पृथक् करके भले न जान सके, परन्तु सामान्यरूप से उसे ऐसा निःसंदेह निर्णय हो गया है कि मेरी समस्त पर्यायें होने का धर्म मेरे द्रव्य में ही भरा है; इससे उस साधक के अभिप्राय में सदैव स्वद्रव्य का ही आश्रय वर्तता है, और वही मोक्षमार्ग है।

देखो, इसमें कहीं कुछ बदलना नहीं है। द्रव्यशक्ति अनादि-अनंत है, उसमें फेरफार नहीं करना है, उस द्रव्य में जो-जो पर्यायें होने का धर्म है, उन पर्यायों को नहीं बदलना है; शुभाशुभ

विकल्प को, निमित्त को, संयोग को भी नहीं बदलना है;—यह सब जैसा है, वैसा है; उसका निर्णय करके स्वयं अपने अन्तर स्वभावसन्मुख होकर वीतरागी ज्ञाताभाव से रह गया, वहाँ अपनी पर्याय मोक्षमार्ग और मोक्षरूप से परिणमित हो जाती है।—ऐसी धर्म की रीत है। सब जैसा है, वैसा निर्णय करने से अपनी संयोगीदृष्टि छूटकर स्वभावदृष्टि हो जाती है अर्थात् आत्मा में मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है।

वस्तु की अनादि-अनंत पर्यायें वस्तु के स्वभाव में अनादि से निर्मित हो गई है; ईश्वरादि कोई अन्य-पदार्थ उसकी पर्याय का निर्माण करनेवाले नहीं हैं। जीव की पर्याय को दूसरा कोई तो नहीं बदल सकता; किन्तु स्वयं जीव भी अपनी पर्याय के क्रम को तोड़कर उसे आगे-पीछे नहीं कर सकता। यहाँ किसी को ऐसी शंका हो कि—यदि द्रव्य स्वयं अपनी अवस्था में परिवर्तन नहीं कर सकता, तब तो पुरुषार्थ ही नहीं रहा? उसका समाधान करते हैं कि भाई! यह बात तो अनेक बार कही जा चुकी है कि अपनी त्रैकालिक पर्यायें अपने द्रव्य में से ही आती हैं—ऐसा जिसने निर्णय किया है, उसकी दृष्टि अपने स्वद्रव्य पर पड़ी है और उसी में मोक्ष के परम पुरुषार्थ का समावेश हो जाता है। मेरी पर्याय पर में से नहीं, किन्तु मेरे द्रव्यसवभाव में से ही प्रगट होगी, और उसमें फेरफार नहीं हो सकता—ऐसा निर्णय करनेवाले ने किसके समक्ष देखकर वह निर्णय किया है? निमित्त के सन्मुख देखने से उसका निर्णय नहीं होता, परन्तु समस्त पर्यायें होने का धर्म जिसमें विद्यमान है—ऐसे अखण्ड द्रव्य के सन्मुख देखने से ही वह निर्णय होता है। इसप्रकार इसमें द्रव्य के आश्रय का अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है, और वही मोक्ष का पुरुषार्थ है।

द्रव्यनय से देखने पर भूत-भावी की पर्यायरूप से द्रव्य ज्ञात होता है—ऐसा उसका एक धर्म है। आचार्यदेव ने वस्तु के धर्मों का जो वर्णन किया है, उसमें अत्यन्त गंभीरता है। द्रव्यनयवाला साधक ऐसा मानता है कि वर्तमान में ही मेरे द्रव्य में भविष्य की पर्याय होने का स्वभाव पड़ा है; इसलिये सत् का ही उत्पाद होता है और मेरी पर्याय प्रगट होने के लिये मुझे कहीं पराश्रय के सन्मुख देखना नहीं रहता परन्तु अपने सत् द्रव्य के सन्मुख ही देखना रहता है। द्रव्य का जिस समय जैसी पर्याय होने का स्वभाव है, उस समय वैसी ही पर्याय होती है, वैसा ही विकल्प आता है और वैसा ही संयोग होता है।—ऐसा निर्णय करनेवाले को क्या करना रहा?—जिसमें से पर्याय प्रगट होती हैं—ऐसा अपना त्रिकाली सत् द्रव्य कैसा है, उसका ज्ञान करके उसमें एकाग्र होना ही रहा; इसके अतिरिक्त कहीं पर में अथवा अपनी पर्याय में फेरफार करना नहीं रहता।

शंका:—आत्मा, पर में तो कुछ भी फेरफार नहीं कर सकता—यह तो ठीक, परन्तु अपनी पर्यायों में भी वह परिवर्तन नहीं कर सकता ?

समाधान:—अरे भाई ! जहाँ द्रव्य का निर्णय किया, वहाँ वर्तमान पर्याय स्वयं द्रव्योन्मुख हो ही गई, फिर तू किसे बदलना चाहता है ? मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है—ऐसा निर्णय करते ही पर्याय, द्रव्य में अन्तर्मुख हो गई; वह पर्याय अब क्रमश: निर्मल ही होती रहती है, और शांति बढ़ती है। इसप्रकार जहाँ पर्याय स्वयं द्रव्य में अन्तर्मग्न हो गई, वहाँ उसे बदलना कहाँ रहा ? वह पर्याय स्वयं द्रव्य के वश में आ ही गई है। पर्याय आयेगी कहाँ से ?—द्रव्य में से; इसलिये जहाँ सम्पूर्ण द्रव्य को वश में कर लिया (-श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार कर लिया) वहाँ पर्यायें वश में आ ही गई हैं, अर्थात् द्रव्य के आश्रय से पर्यायें निर्मल होने लग गई हैं। जहाँ स्वभाव का निर्णय किया, वहीं मिथ्याज्ञान बदलकर सम्यक्ज्ञान हुआ, मिथ्याश्रद्धा बदलकर सम्यक्दर्शन हुआ !—इसप्रकार निर्मल पर्यायें होने लगीं, वह भी वस्तु का धर्म है। वस्तु का स्वभाव नहीं बदला और पर्याय के क्रम की धारा भी नहीं टूटी। द्रव्य के ऐसे स्वभाव का स्वीकार करने से पर्याय की निर्मल धारा प्रारम्भ हो गई और ज्ञानादि का अनन्त पुरुषार्थ उसमें साथ ही आ गया।

जहाँ स्व या पर किसी द्रव्य को, किसी गुण को अथवा किसी पर्याय को बदलने की बुद्धि नहीं रही, वहाँ ज्ञान, ज्ञान में ही स्थिर हो गया; इसलिये मात्र वीतरागी ज्ञाताभाव ही रह गया; उसे अल्पकाल में मुक्ति होगी ही। बस ! ज्ञान में ज्ञाता-दृष्टापना रहना ही स्वरूप है, वही सब का सार है। अंतर की यह बात जिसके ख्याल में न आये, उसे कहीं पर में अथवा पर्याय में फेरफार करने का मन होता है। ज्ञाताभाव से च्युत होकर कहीं भी फेरफार की कर्ताबुद्धि, वह मिथ्याबुद्धि है।

ज्ञानी धर्मात्मा को चक्रवर्ती आदि पर्याय आये, तो वहाँ उसे ऐसा नहीं लगता कि ऐसी पर्याय की अपेक्षा यदि मैं निर्धन होता तो ठीका था ! अपनी जो भूमिका है, तद्नुसार पर्याय में राग और संयोग आये बिना नहीं रहते। चक्रवर्ती आदि पर्याय हो, वह भी मेरे द्रव्य का उसप्रकार का धर्म है। द्रव्य में जो-जो पर्याय होने का अनादि स्वभाव है, वह बदल नहीं सकता;—ऐसा जानता हुआ धर्मी अपने द्रव्य की ओर की उन्मुखता से पर्याय का ज्ञाता रहता है। चक्रवर्तीपद में जो अल्प राग और संयोग है, उसका भी वह वास्तव में ज्ञाता ही है। "ऐसी पर्याय और ऐसा संयोग क्यों आया ?"—ऐसा विषमभाव उसके ज्ञान में से दूर हो गया है। "संयोग की या राग की भावना नहीं है, तथापि बीच में राग पर्याय क्यों आई ?"—इसप्रकार ज्ञानी को शंका या विषमभाव नहीं होता।

ज्ञानी तो जानता है कि संयोग तो मुझ से पर हैं, और रागपर्याय भी मेरा त्रिकाली द्रव्यस्वभाव नहीं है। इसप्रकार द्रव्यस्वभाव की दृष्टि में धर्मी को वीतरागभाव की ही वृद्धि होती जाती है।—इसका नाम सम्यक् धर्म है।

दो केवली भगवन्तों में एक को तीर्थंकरपद हो और दूसरे को न हो; मुनियों में किसी को आचार्य पदवी हो और दूसरे को न हो; साधकों में किसी के विशेष पुण्य का योग हो और किसी के न भी हो; वहाँ धर्मी को अंतरंग पवित्रता की शंका नहीं पड़ती। उस-उसप्रकार की विशेष पर्याय हो—ऐसा उस-उस द्रव्य का स्वभाव ही है। अपने द्रव्यस्वभाव को स्वीकार करके जहाँ उसमें पर्याय की एकता हुई, वहाँ मोक्ष का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है; फिर चाहे बीच में तीर्थंकरादि पदवी हो या न हो—उसे ज्ञानी जानते हैं, किन्तु उसके साथ मोक्षमार्ग का सम्बन्ध नहीं है; मोक्षमार्ग तो अंतर के अखण्ड द्रव्य के आश्रय से ही है।

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा में भविष्य में जो पर्याय होना है, उस पर्यायरूप से वर्तमान में ही वह ज्ञात हो—ऐसा उसका स्वभाव है। द्रव्यनय से देखने पर आत्मा ऐसे स्वभाववाला ज्ञात होता है। जिसप्रकार ज्योतिषी, भविष्य में जो होना है, उसे जान सकता है, परन्तु उसमें कुछ फेरफार या आगे-पीछे नहीं कर सकता; उसीप्रकार द्रव्य में एक ऐसा स्वभाव है कि उसमें, भविष्य में जो पर्याय होना हो, उस पर्यायरूप से वह वर्तमान में ज्ञात होता है; परन्तु उसमें कुछ फेरफार हो—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। ज्योतिषी क्या देखता है ?—जो होना होता है, वह देखता है; भविष्य में इस समय यह चंद्र या सूर्यग्रहण होगा—ऐसा वह जानता है; किन्तु क्या वह उस ग्रहण को बदल सकता है ?—नहीं बदल सकता। बस ! जैसा होना है, वैसा उसने जाना है। उसीप्रकार यहाँ त्रिकाली द्रव्य की अनादि-अनंत पर्यायें होने का जैसा धर्म है, वैसा ज्ञान जानता है; परन्तु वह उसका निषेध नहीं करता और न उसमें परिवर्तन करता है। द्रव्य में भविष्य की जो-जो पर्यायें होना हों, वे पर्यायें होने से पूर्व, वर्तमान में भी, उसमें वे-वे पर्यायें होने का धर्म विद्यमान है; और उस भावी पर्यायरूप से द्रव्य को वर्तमान में जान ले—ऐसा श्रुतज्ञान का एक प्रकार है, उसका नाम द्रव्यनय है। वस्तु की अनंत पर्यायों में से प्रत्येक को पृथक् करके श्रुतज्ञानी भले न जान सके, परन्तु सामान्यरूप से तो उसके निर्णय में आ गया है कि द्रव्य में तीन काल की जो-जो पर्यायें हैं, वे समस्त पर्यायें होने का द्रव्य का अपना स्वभाव है। ऐसा निर्णय होने से किसी भी पर्याय के समय धर्मी के द्रव्यदृष्टि दूर नहीं

होती। ऐसा द्रव्यस्वभाव समझ लेने के पश्चात् उसी का मंथन और उसी में एकाग्रता रहे, उसका नाम चारित्र है।

जहाँ स्वभावसन्मुख साधकदशा हुई, वहाँ ''मैं अल्पकाल में सिद्ध होनेवाला हूँ''—ऐसा निर्णय साधक को हो जाता है। भविष्य में अल्पकाल में सिद्धदशा होना है, वहाँ 'मैं सिद्ध हूँ'—इसप्रकार भावी पर्यायरूप वर्तमान में अपना आत्मा ज्ञात हो—ऐसा उसका धर्म है, और श्रुतज्ञान का वैसा जानने का स्वभाव है।

देखो! यहाँ तो जिसके भविष्य में सिद्धपर्याय होना है—ऐसे आत्मा की ही बात ली है अर्थात् भव्य जीव की ही बात ली है। जिसे भविष्य में सिद्धपर्याय होना है, वह स्वयं अपने को वर्तमान में सिद्धरूप से जानता है। यह नय सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी के ही होते हैं। भविष्य में सिद्ध-पर्याय होने का जिसके द्रव्य का स्वभाव है और जिसका अपना ज्ञान भावी सिद्ध-पर्यायरूप से अपने द्रव्य को जाननेवाला है—ऐसे सम्यग्ज्ञानी की ही यहाँ बात है। उसी को यथार्थ द्रव्यनय होता है। अभव्य को कभी सिद्ध-पर्याय नहीं होना है, और न उसमें उसप्रकार की पर्यायरूप से द्रव्य को जाने—ऐसा नय भी होता है। वह स्वयं अपने द्रव्यस्वभाव को नहीं जानता; उसके द्रव्य के स्वभाव को या भूत-भविष्य की पर्यायों को दूसरे श्रुतज्ञानी जानते हैं परन्तु वह स्वयं अपने को नहीं जानता; और जो जीव स्वयं को जानता है, उसके अपने तो भविष्य में सिद्ध-पर्याय होने का ही स्वभाव है; सिद्ध-पर्याय न होना हो, वैसे जीव तो उसे परज्ञेय में हैं; स्वज्ञेय में तो सिद्धपर्याय होना ही है। यह बात जाने और मोक्ष-पर्याय न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। यहाँ अभव्य की बात नहीं है; यहाँ तो जो स्वयं अपने स्वभाव को ज्ञान का ज्ञेय बनाकर जाने—ऐसे मोक्षगामी जीव की ही बात है; ज्ञान की और वस्तुस्वभाव की एकता की बात है। नयों द्वारा वस्तुस्वभाव की साधना करके उसमें ज्ञान की एकता करने के लिये यहाँ नयों से आत्मा का वर्णन किया है। यह बात आचार्यदेव १९ वें कलश में कहेंगे कि—''इसप्रकार स्यात्कार श्री (लक्ष्मी) के निवासपने के वश में वर्तते हुए नयसमूहों द्वारा जीव देखें तो भी और प्रमाण द्वारा देखें तो भी स्पष्ट अनंत धर्मोंवाले निज आत्मद्रव्य को अंतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं।'' इसलिये अपने शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मस्वभाव को देखना ही इन सर्व नयों का तात्पर्य है।

वस्तु अनादि-अनंत है, उसमें वर्तमान एक पर्याय प्रगट है, उसके अतिरिक्त भूत-भविष्य की पर्यायें अप्रगट हैं; उन भूत-भविष्य की पर्यायोंरूप से वर्तमान में ज्ञाता हो—ऐसा द्रव्य का धर्म

है। द्रव्य वर्तमान पर्याय जितना ही नहीं है परन्तु वह तो त्रिकाल की पर्यायों के सामर्थ्य का पिण्ड है। वर्तमान पर्याय ही ज्ञात हो और भूत-भविष्य की पर्यायें ज्ञान में ज्ञात न हों—ऐसा नहीं है; वर्तमान पर्याय की भाँति भूत-भविष्य की पर्यायें भी ज्ञान में ज्ञात होती हैं। श्रुतज्ञान से सामान्यतः यह ख्याल में आता है कि इस द्रव्य ने पूर्वकाल में अनंत भव किए हैं; और यदि विशेष निर्मलता हो तो श्रुतज्ञानी को पूर्वकाल के असंख्य वर्षों के अनेक भव ख्याल में आ जाते हैं।

जीव अनादिकालीन है और उसकी पर्यायें भी अनादिकालीन हैं। पहले अकेला द्रव्य ही था और पर्यायें नहीं थीं—ऐसा नहीं है; क्योंकि पर्यायरहित द्रव्य कभी होता ही नहीं। पूर्वकाल में इस जीव को कभी मोक्षपर्याय नहीं हुई है, क्योंकि यदि उसे मोक्षपर्याय हुई होती तो यह संसारभ्रमण नहीं रह सकता था; इसलिये अभी तक अनादि-अनंतकाल जीव ने भिन्न-भिन्न गतियों में ही व्यतीत किया है। इसप्रकार श्रुतज्ञान में द्रव्य की भूत-भविष्य की पर्यायें भी भासित होती हैं। पूर्व भव की पर्यायरूप से ज्ञात हो—ऐसा धर्म आत्मा में विद्यमान है। एक द्रव्यनय में इतना सामर्थ्य है कि द्रव्य की भूत-भविष्य की पर्यायों का निर्णय कर सकता है। द्रव्य में ऐसा ज्ञेयधर्म है और ज्ञान में वैसा ज्ञात करने का धर्म है। इस एक धर्म का भी यथार्थ निर्णय करने से त्रिकाली द्रव्य का स्वरूप प्रतीति में आये बिना नहीं रहता। *[क्रमशः]*

चेतन और अचेतन वस्तु के
स्वरूप की पूर्णता

❁ पूर्ण स्वरूप के लक्ष से ही धर्म का प्रारम्भ ❁

❁ अल्पज्ञता के समय भी सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय ❁

जो वस्तु का स्वरूप हो, वह परिपूर्ण ही होता है। आत्मा का स्वरूप 'चेतन' है, वह चेतनत्व से परिपूर्ण है; उसमें अचेतनत्व बिलकुल नहीं है। और जड़ का स्वरूप 'अचेतन' है, वह अचेतनत्व से परिपूर्ण है, उसमें चेतनत्व बिलकुल नहीं है। आत्मा त्रिकाल चेतनस्वरूप है और जड़ त्रिकाल अचेतन स्वरूप है।

''ज्ञाता'' तत्त्व में 'अजानपना' होता ही नहीं, और 'अजान' तत्त्व में बिलकुल 'ज्ञातृत्व' नहीं होता। ज्ञाता तत्त्व में यदि कुछ भी 'अजानपना' हो तो वह तत्त्व ही ज्ञाता न रहे; और अजान तत्त्व में कुछ 'ज्ञातृत्व' हो तो वह अचेतन न रहे।

ज्ञाततत्त्व आत्मद्रव्य है; वह जानने में परिपूर्ण है; और अजानतत्त्व जड़ द्रव्य हैं, वे अनजानपने में परिपूर्ण हैं। इसप्रकार चेतन और जड़ दोनों पदार्थ अपने अपने स्वभाव में परिपूर्ण हैं।

आत्मा के चेतन स्वभाव को बदलकर उसे जड़ बना दे, अथवा जड़ के अचेतन सवभाव को बदलकर उसमें अंशत: भी चेतनता कर दे—ऐसी शक्ति जगत में किसी की नहीं है। वस्तु का जैसा स्वरूप हो, वैसा अपने ज्ञान से जाने—ऐसी आत्मा की शक्ति है, परन्तु वस्तु के स्वरूप को बदलने की शक्ति तो तीर्थंकरों में भी नहीं है।

'आत्मा परिपूर्ण चेतनस्वरूप है'—ऐसा स्वीकार करते ही 'राग-द्वेष उसका स्वरूप नहीं है'—यह बात उसमें आ जाती है; क्योंकि यदि ज्ञान में राग-द्वेष हो तो ज्ञान पूर्ण नहीं जान सकता। इसलिये राग और ज्ञान वास्तव में भिन्न-भिन्न हैं; धर्मी जीव की पर्याय में अल्प राग-द्वेष होने पर भी उसे अंतर में ऐसा भान है कि यह राग-द्वेष मेरा सच्चा स्वरूप नहीं है; मेरा स्वरूप तो अखण्ड ज्ञानमय है। जो जीव, शुभ या अशुभ किसी भी जाति के रागादि को अपना स्वरूप माने, उसने अपने आत्मा को पूर्ण ज्ञानस्वरूप से नहीं माना है। पूर्ण ज्ञान में राग-द्वेष नहीं होते, और जहाँ राग-द्वेष होते हैं, वहाँ पूर्ण ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार 'मैं पूर्ण ज्ञानस्वरूप हूँ'—ऐसा स्वीकार करते ही 'मैं रागस्वरूप नहीं हूँ'—ऐसा भेदज्ञान भी आ जाता है। ज्ञान और राग की एकता की बुद्धि छूटे

बिना अंतर में शुद्ध आत्मा की रागरहित श्रद्धा का अनुभव नहीं होता। यदि आत्मा को शुद्ध ज्ञानस्वरूप से पहिचानकर उसकी महिमा करे और उसी में आत्मबुद्धि करे, तो उस शुद्ध ज्ञानस्वरूप से अन्य समस्त परवस्तुओं और परभावों में से आत्मबुद्धि छूट जाती है, इसका नाम सम्यक्श्रद्धा और सम्यक्ज्ञान है। जिसने शुद्ध ज्ञानस्वरूप में ही आत्मबुद्धि की है और विकार में आत्मबुद्धि छोड़ दी है, उस जीव को अनुक्रम से शुद्ध ज्ञानस्वरूप में एकाग्रता होती जाती है और विकार दूर होता जाता है। ऐसा होते-होते अन्त में सम्पूर्ण विकार दूर हो जाता है और ज्ञान का पूर्ण विकास हो जाता है; उस आत्मा को 'सर्वज्ञ' कहा जाता है। उन सर्वज्ञ परमात्मा को सर्वज्ञदशा प्रगट होने से पूर्व राग-द्वेष थे, परन्तु वह आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं था, इससे वे दूर हो गये और पूर्ण ज्ञान प्रगट हो गया। उन सर्वज्ञ की भाँति इस आत्मा का स्वभाव भी पूर्ण ज्ञानस्वरूप है; पर्याय में जो अपूर्ण ज्ञान है, वहाँ राग-द्वेष है, वह उसका सच्चा स्वरूप नहीं है।—इस प्रकार आत्मा की समझ धर्म की पहली रीति है; ऐसे आत्मा की समझ बिना अन्य किसी प्रकार धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। पूर्ण स्वभाव के लक्ष से ही धर्म का प्रारम्भ होता है, इसके अतिरिक्त पर के लक्ष से, विकार के लक्ष से या अपूर्णता के लक्ष से धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

वर्तमान पर्याय में अपूर्ण ज्ञान है; तो उस अपूर्ण ज्ञान में पूर्ण ज्ञानस्वभाव की खबर कैसे पड़ेगी ?—ऐसा किसी को प्रश्न उठे तो उसका समाधान:—जिसप्रकार आँख छोटी-सी होने पर भी पूरे शरीर को जान लेती है, उसीप्रकार पर्याय में ज्ञान का विकास अल्प होने पर भी यदि वह ज्ञान स्वसन्मुख हो तो पूर्ण ज्ञानस्वरूपी आत्मा को वह स्व-संवेदन से जानता है। केवलज्ञान होने से पूर्व अपूर्ण ज्ञान में भी स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से पूर्ण ज्ञानस्वरूपी आत्मा का नि:सन्देह निर्णय होता है। जिसप्रकार ज्ञान बाह्य में स्थूल पर्यायों को जानने में अटक रहा है, उसीप्रकार यदि ज्ञान को अंतर्मुख करो तो वह ज्ञान आत्मा को जानता है। जिसप्रकार मिश्री की छोटी-सी डली से पूरी मिश्री के स्वाद का निर्णय हो जाता है, उसीप्रकार ज्ञान की अल्प पर्याय को अंतर्मुख करने से उसमें पूर्ण ज्ञानस्वभाव का निर्णय हो जाता है। कोई कहे कि—"अपूर्ण ज्ञान पूर्ण आत्मा को नहीं जान सकता, पूर्ण ज्ञान ही पूर्ण आत्मा को जान सकता है"—तो उसकी बात मिथ्या है। यदि अपूर्ण ज्ञान पूर्ण आत्मा को न जान सके तो वह कभी सम्यग्ज्ञान हो ही नहीं सकता। अपूर्ण ज्ञान भी स्वसन्मुख होकर पूर्ण आत्मस्वभाव को जानता है तथा उसकी प्रतीति करता है;—ऐसा ज्ञान और प्रतीति करे, तभी सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन होता है। अपूर्ण पर्याय जब अन्तर्मुख होकर पूर्ण स्वभाव में अभेद हुई तब अपूर्ण-पूर्ण के भेद पर लक्ष नहीं रहा, और परिपूर्ण द्रव्य ही श्रद्धा-ज्ञान में आया; उसका नाम

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। अवस्था में पूर्णता प्रगट नहीं हुई है, तथापि अभेद द्रव्य को प्रधान करके पूर्ण आत्मा को देखना, उसका नाम 'शुद्धनय' है। शुद्धनय सम्यग्ज्ञान का अंश है। उस शुद्धनय का ऐसा स्वभाव है कि अपूर्ण दशा के समय भी वह आत्मा को शुद्ध-परिपूर्ण स्वभावरूप से देखता है; वह रागादि भावों को अपना स्वरूप नहीं मानता। ज्ञान का विकास अल्प होने पर भी यदि अंतरस्वभावोन्मुख होकर उस स्वभाव को स्वीकार करे तो वह सम्यग्ज्ञान है और मोक्ष का कारण है और ज्ञान का विकास अधिक होने पर भी यदि अंतरस्वभावोन्मुख न हो, तथा रागादि को ही अपना स्वरूप मानकर वहाँ रुक जाये तो वह मिथ्याज्ञान है।

आत्मा, परवस्तुओं से तो सदैव पृथक् ही है। आत्मा में त्रिकाली द्रव्यस्वभाव और क्षणिक पर्यायस्वभाव—ऐसे दो पक्ष हैं; उनमें क्षणिक पर्याय की अपेक्षा त्रिकाली द्रव्य का अनंतगुना माहात्म्य है; इसलिये द्रव्य और पर्याय दोनों के स्वरूप को जो ज्ञान यथार्थरूप से जाने, वह ज्ञान द्रव्यस्वभाव में एकाग्र हुए बिना नहीं रहता।

जैसे—पाँच शून्यों के साथ एक हो; वहाँ यदि पाँच शून्यों को पहले रखकर फिर एक रखें तो (०००००१) उन संख्या का मूल्य मात्र 'एक' ही होता है; और यदि एक को अग्र रखकर फिर पाँच शून्य रखें तो (१०००००) उस संख्या के मूल्य में 'एक लाख' गुनी वृद्धि हो जाती है। यह तो एक दृष्टान्त है। उसीप्रकार आत्मा में त्रिकाली द्रव्य और वर्तमान पर्याय एकसाथ ही हैं; उसमें पर्याय को मुख्य करके आत्मा का अनुभव करने से वह अशुद्ध और अपूर्णरूप ही ज्ञात होता है; किन्तु यदि अखण्ड द्रव्यस्वभाव को अग्र रखकर—अर्थात् द्रव्य को मुख्य करके लक्ष में लें तो आत्मा का शुद्ध और पूर्ण स्वरूप से ज्ञात होता है। वस्तु में अकेली अवस्था को पृथक् करके देखने से वस्तु की पूर्ण महिमा ज्ञात नहीं होती परन्तु वह अपूर्ण भासित होती है; किन्तु पर्याय को अन्तर्मुख द्रव्य में एकाग्र करके द्रव्य की प्रधानता से आत्मा का अनुभव करने से स्वसंवेदनप्रत्यक्षपूर्वक पूर्ण शुद्ध आत्मा का अनुमान और उसकी प्रतीति होती है। इसप्रकार अपूर्ण ज्ञान में भी स्वसंवेदन से आत्मा का ज्ञान होता है। वहाँ जितने अंश में राग का और इन्द्रियों का अवलम्बन टूटकर स्वसंवेदन हुआ है, उतना तो प्रत्यक्षपना है; परन्तु अभी पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट नहीं हुआ है; इसलिये नय और अनुमान भी है।

ज्ञान और राग का भेदज्ञान किए बिना अर्थात् ज्ञान को अंतरोन्मुख करके अंशतः रागरहित किए बिना पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा का संवेदन नहीं होता; ज्ञान अंतरस्वभाव में एकाग्र होकर परिणमित हुआ और रागरूप परिणमित नहीं हुआ, उसका नाम भेदविज्ञान और धर्म है।

[समयसार कलश ४ पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

चारित्र की भावना

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग का सम्यक्-चारित्र कैसा होता है, उसका भान मिथ्यादृष्टि को नहीं होता; इसलिये उसे तो उस चारित्र की यथार्थ भावना भी नहीं होती। सम्यग्दृष्टि को मोक्षमार्ग के सम्यक्चारित्र का यथार्थ भान होता है और उसी को उस चारित्र की यथार्थ भावना होती है। चारित्र तो आत्मा का वीतरागभाव है, उसे अज्ञानी जानता नहीं है और देह की क्रिया को या शुभराग को चारित्र मानकर उसी की भावना करता है, इसलिये अज्ञानी के तो चारित्र के नाम से भी मिथ्यात्व की पुष्टि होती है। अविरति सम्यग्दृष्टि के भले मुनिदशा आदि का विशेष चारित्र न हो, तथापि अन्तर में उसे उस चारित्र का भान और भावना तो होती ही है; अप्रत्याख्यान का राग होने पर भी उसकी भावना नहीं होती। परन्तु जिसे अभी सम्यग्दर्शन ही नहीं है, उसे तो चारित्रदशा का यथार्थ भान या भावना भी नहीं होती; तब फिर सम्यक्चारित्र तो उसे होगा ही कहाँ से ? चारित्र, वह धर्म है, परन्तु उसका मूल तो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र या उसकी भावना नहीं होती। छहढाला में भी कहा है कि:—

मुनिव्रत धार अनन्तवार ग्रीवक उपजायो;
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

[—रात्रिचर्चा से]

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक
प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	भजनमाला	
समयसार प्रवचन भाग २	५)	(अजमेर भजन-मण्डली की)	=॥)
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	मूल में भूल	।।।)
प्रवचनसार हिंदी		मुक्ति का मार्ग	।।=)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	अनुभवप्रकाश	।।)
आत्मावलोकन	१)	अष्टपाहुड़	३)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१।=)	चिद्विलास	१=)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	दसलक्षणधर्म	।।।)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५॥)	जैन बालपोथी	।)
समयसार पद्यानुवाद	।)	सम्यक्दर्शन	२)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=॥)	स्तोत्रत्रयी	।=)
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)	भेदविज्ञानसार	२)
आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७ वर्ष	प्रत्येक का ३॥।)	पंचमेरु पूजन	।।।)

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: मुद्रक-प्रकाशक :
श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये
जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकड़िया